IJSRST
© 2018 IJSRST | Volume 4 | Issue 2 | Print ISSN : 2395-6011 | Online ISSN : 2395-602X
Themed Section: Science and Technology

श्रीपिल्लई लोकाचार्य का समानतन्त्र आचार्य वेंकटनाथ से वैलक्षण्य

भावना शुक्ला,
शोधच्छात्रा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

श्रीरामानुजाचार्य के महनीय उद्योगों के फलस्वरूप वैष्णव धर्म का दक्षिण देश में खूब प्रचार–प्रसार हुआ किन्तु उनके देहावसान के लगभग 150 वर्षों के भीतर ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में दो स्वतंत्र मत स्थापित हो गए, जिनमें से एक मत का प्रतिनिधित्व श्रीपिल्लई लोकाचार्य (1206–1311ई0) ने किया तथा उनके द्वारा प्रवर्तित मतवाद टेंकलै मत कहलाया। दूसरे मत का प्रतिनिधित्व उन्हीं के समकालीन आचार्य श्रीवेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक अथवा कवितार्किक सिंह) (1269–1369 ई0) ने किया तथा उनके द्वारा प्रवर्तित मतवाद बड़कलै मत कहलाया। पिल्लई लोकाचार्य वेदान्तदेशिक से वय में बड़े थे। टेंकलै दक्षिणापथ की शाखा है तथा बड़कलै उत्तरापथ की शाखा है। टेंकलै शाखा तमिलवेद की पक्षपातिनी थी और वह संस्कृत वेदों पर आस्था नहीं रखती थी, जबकि बड़कलै शाखा दोनों को ही प्रमाण स्वीकार करती थी, किन्तु वह संस्कृत पर अभिमान भी करती श्रीपिल्लईलोकाचार्य का अपने समकालीन आचार्यवेंकटनाथ से मुख्य भेद प्रपत्ति के अर्थबोध के विषय को लेकर था। अतः विशिष्टाद्वैतवेदान्त में दो पृथक् मत टेंकलै और बड़कलै स्थापित हुए प्रपत्ति के स्वरूप के भिन्न–भिन्न अर्थबोध एवं अन्य छोटे भेद कर्मकाण्डों के विषय में जैसे– तिलक आदि के प्रश्न पर दो स्पष्ट पथ बन गए। तेरहवीं शताब्दी में टेंकलै तथा बड़कलै सम्प्रदाय के मध्य मतभेद बहुत ज्यादा बढ़ गया। पीछे से सौम्य जामातृ पंथ के अग्रज माने गए तथा मणवाल महामुनि तेंगलायियों के प्रमुख सन्त हुए। यद्यपि इन दोनों ही पंथों के नेताओं (श्रीपिल्लई लोकाचार्य, वेदान्तदेशिक और सौम्य जामातृ मुनि) के मध्य परस्पर सहानुभूति थी तथापि इन पंथों के अनुयायी छोटी–छोटी बातों को लेकर आपस में झगड़ा किया करते थे और आज भी इन पंथों का विग्रह यथावत् विद्यमान है।

श्रीपिल्लईलोकाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में द्रविडाम्नाय को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया तथा वें संस्कृत वेदों के प्रति उदासीन ही रहे, जबकि इसके विपरीत श्रीवेदान्तदेशिक ने संस्कृत वेद को सर्वोपरि रखा। लोकाचार्य ने रामानुजाचार्य के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को सर्वजनसंवेद्य बनाने के उद्देश्य से ग्रन्थों से अधिक गीति एवं दिव्यप्रबन्धों को भक्ति का अर्थ समझाने के लिए लिखा। ये समस्त ग्रन्थ तमिल भाषा में ही उपनिबद्ध है तथा इनमें से कुछ ही संस्कृत भाषा में अनुदित है। आजकल लोकभाषा पर अधिक पक्षपात होने के कारण दक्षिण भारत में टेंकलै मत पर अधिक आग्रह दृष्टिगोचर होता है।

गोविन्दाचार्य ने इन दोनों ही शाखाओं के मध्य कुछ भेद बताए है, जिनमें से कुछ अग्रलिखित हैं[प]—

(1) बड़कलै की अपेक्षाकृत टेंकलै में प्रपत्ति की प्रधानता है। टेंकलै मतानुसार वैष्णवों की शरणागति ही एकमात्र मोक्षोपाय है तथा साधक को ईश्वर की अनुकम्पा हेतु किसी भी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है।[पप] जबकि बड़कलै मतानुसार ईश्वरीयकृपा अथवा अनुग्रह के निमित्त साधक को कर्म अथवा उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि और चित्त की एकाग्रता हेतु प्रयत्नशील होना पड़ता है। टेंकलै मतानुसार– 'प्रपन्न (अधीतः प्रबन्धः प्रपन्नः) को 'प्रपत्ति' अथवा 'ईश्वरशरणागति' हेतु सामान्य धर्मों का नियमतः पालन करना अनिवार्य नहीं है। प्रपन्न पुरुष के मन में यह दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि

श्रीभगवान् ही एकमात्र रक्षक हैं। वे स्वयं अपनी प्राप्ति में उपाय भी हैं। प्रपत्ति पवित्रस्थान में ही की जानी चाहिए, अन्य स्थान में नहीं, इस प्रकार के नियम को देश का नियम कहते हैं, इस पर लोकाचार्य कहते हैं, कि ऐसा नहीं हैं, कि प्रपत्ति को करने हेतु प्रपन्न को देश के नियम का पालन करना अनिवार्य है। प्रपत्ति को किसी काल विशेष यथा–वसन्तादि में ही किया जाना चाहिए तो ऐसा भी नियम नहीं है। प्रपत्ति को हाथ–पैर का प्रक्षालन करके अथवा स्नानादि, क्रिया करके किया जाना चाहिए, इस प्रकार के नियम को 'प्रकार–नियम' कहते हैं, तो प्रपत्ति के विषय में ऐसे 'प्रकार–नियम' का भी अभाव है। प्रपत्ति करने का अधिकारी भी निश्चित नहीं हैं ऐसा नहीं है कि 'प्रपत्ति' अथवा 'ईश्वरशरणागति' का अधिकार केवल त्रैवर्णिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को ही प्राप्त है। वस्तुतः प्रपत्ति के सभी अधिकारी है। वह चाहे स्त्री, पुरुष, शूद्र, पशु, पक्षी आदि कुछ भी हो। लोकाचार्य कहते हैं कि ईश्वरीय प्रेम एवं कृपा के अधिकारी तो इस संसार के समस्त प्राणी हैं और इसी मानवतावादी विचारधारा से प्रेरित होकर श्रीलोकाचार्य ने प्रपत्तिमार्ग का प्रतिपादन किया है, जो समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए मुक्ति के पथ को प्रदर्शित करता है। पवित्र एवं अपवित्र समस्त जीव समानरूप से प्रपत्ति के अधिकारी है। प्रपत्ति के द्वार सभी प्राणियों के लिए खुले हैं। वह प्रपन्न के लिए परमात्मा की प्राप्ति हेतु 'प्रपत्ति' अर्थात् 'ईश्वर–शरणागति' ही एकमात्र उपाय है। तथा प्रपन्न जीव को ईश्वर लाभ हेतु किसी अन्य कर्म को करने की अपेक्षा नहीं होती है। जीव श्रीभगवान् को केवल इसीलिए नहीं प्राप्त कर पाता है, क्योंकि वह 'अहंभाव' से युक्त होता है तथा मैं ईश्वर से पृथक् हूँ और मेरा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। अपने इन मिथ्या विचारों के कारण जीव स्वयं को परमात्मा से पृथक् कर लेता हैं, किन्तु जब वह अपने 'अहंभाव' का परित्याग कर स्वतन्त्रता की भावना का परित्याग कर देता है और ईश्वर को ही अपना परम ध्येय स्वीकार कर लेता है, तब वह अपने मिथ्या अहंकार का परित्याग कर ईश्वर का शरणागत हो जाता है। और उस समय उस जीव को ईश्वर को प्राप्त करने हेतु किसी भी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती है। वस्तुतः जब भक्त इस चिन्ता का भी परित्याग कर देता है कि उसकी मुक्ति किसी प्रकार से होगी और ईश्वरशरणागति कर लेता है। तब परमात्मा स्वयं उस शरणागत जीव का उज्जीवन करने की इच्छा करते हैं और परमात्मा की प्राप्ति जीव को स्वतः हो जाती है। वस्तुतः परमात्मा की प्राप्ति का साधन परमात्मा की इच्छा ही है।[पपप] जिस समय चेतन जीव ईश्वर से पृथक् होकर इस संसार में संचरण करता है तो चेतन के उस संचरणकाल में भी समानरूप से परमात्मा की इच्छा बनी रहती है कि इस चेतन का आत्मकल्याण हो जाए।[पअ] जिस समय जीव की यह चिन्ता समाप्त हो जाती है कि मेरा रक्षक कौन है? उस समय श्रीभगवान् की जीवात्माओं के आत्मोज्जीवन की इच्छा बलवती हो जाती है,[अ] क्योंकि परमात्मा की वह इच्छा किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं रखती।

टेंकलै मत के अनुयायी अपने इस पक्ष के पोषण हेतु कि साधक को ईश्वर की कृपा हेतु किसी भी प्रयत्न की अपेक्षा नही होती तथा इस विषय में वह 'मार्जारकिशोरन्याय' का आश्रय ग्रहण करते हैं। उनके कथनानुसार– 'जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे की असहायता एवं दीनता को देखकर स्वयं उस निष्चेष्ट मार्जारकिशोर को अपने मुँह में पकड़कर निरापद स्थान तक ले जाती है। उसी प्रकार ईश्वर भी अपने भक्तों की रक्षा स्वयं करते है तथा उन ईश्वर की अनुग्रह प्राप्ति हेतु जीव के लिए कोई भी प्रयत्न अपेक्षित नहीं है।'[अप]

इसके विपरीत बड़कलै मतानुयायी जिसके प्रमुख आचार्य 'वेदान्तदेशिक अथवा वेंकटनाथ है', ने प्रपत्ति में कर्म की उपादेयता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ईश्वर की अनुकम्पा हेतु साधक को कर्म एवं उपासना के द्वारा चित्त की शुद्धि और चित्त की एकाग्रता हेतु प्रयत्न करना पड़ता है। विशिष्टाद्वैतवाद में इसी कारण से उपासना द्विधा विभक्त हो गयी। इसमें से आचार्य वेंकटनाथ वैधी भक्ति पर तथा लोकाचार्य ने अनुरागात्मिका प्रपत्ति पर बल दिया। यज्ञादिशास्त्रोक्तकर्म का भक्ति–साधना से विरोध नहीं हैं, क्योंकि जिन देवताओं का वेदों में उल्लेख है, वे ब्रह्म को ही लक्ष्य करते है। ब्रह्म को ही वैष्णवों का एकमात्र देव 'श्रीभगवान्' कहा जाता है। भक्त को नित्य और नैमित्तिक कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को कर्म रहित हो जाना चाहिए, तो वहाँ कर्म रहित का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को निःस्वार्थभाव अर्थात् निष्कामभाव से कर्म करना चाहिए। क्योंकि काम्य और निषिद्ध कर्मों के प्रति

उदासीनता एवं नित्य–नैमित्तिक वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करने से ईश्वर के प्रति नैष्ठिक आस्था जागृत होती है और जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। ईशावास्योपनिषद् में भी प्रतिपादित है कि **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत् समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।'**[अपप] अर्थात् इस संसार में अग्निहोत्र आदि शास्त्रविहितकर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार जीने की इच्छा करने वाले तुझे मनुष्यत्वमात्र का अभिमान करने हेतु इस अग्निहोत्र आदि शास्त्रविहित कर्मों को करते हुए ही वर्तमान प्रकार से भिन्न और अशुभ कर्मों में मनुष्य को लिप्त न करें। इस प्रकार हम देखते हैं, कि श्रीपिल्लईलोकाचार्य और आचार्य वेदान्तदेशिक के प्रपत्ति विषयक विचार में मुख्य भेद यह हैं कि बड़कलै सम्प्रदाय के अनुसार जिन्होंने प्रपत्ति मार्ग को अपनाया है, उनके लिए शास्त्रोक्त विधि का अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों का परित्याग अनिवार्य माना गया है, क्योंकि शास्त्र भगवान् के आदेश है। जबकि टेंकलै मतानुसार जिस मनुष्य ने प्रपत्ति के मार्ग को स्वीकार कर लिया है, वह प्रपत्ति द्वारा उत्पन्न मानसिक स्थिति के कारण शास्त्रोक्त धर्म का पालन करने हेतु असमर्थ हो जाता है तथा उसकी समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है।यही कारण है कि वह साधक इन धर्मों से अतीत हो जाता है। वस्तुतः बड़कलै की अपेक्षा से टेंकलै मत 'उच्च–कोटि' की प्रपत्ति पर बल देता है।[अपपप] लोकाचार्य ईश्वर की अनुग्रह प्राप्ति हेतु कर्म को आवश्यक न मानकर 'कार्पण्य' को आवश्यक मानते हैं।[पग]

(2) बड़कलै मतानुसार जिस प्रकार नारायण मोक्ष प्रदाता हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी भी मोक्ष प्रदान कर सकती है, जबकि टेंकलै मतानुसार लक्ष्मी केवल भगवत्कृपा दिलाने में सहायक हैं, वे मोक्ष प्रदान नहीं कर सकती है। आचार्य वेंकटनाथ लक्ष्मी जी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सर्वोत्तम ईश्वर 'नारायण' और उनकी शक्ति 'लक्ष्मी' हैं, जो जड़ और जीव की अधिष्ठात्री हैं। श्रीलक्ष्मीजी की श्रीनारायण से पृथक् सत्ता है किन्तु वह सदैव उनकी सहभागिनी है। वे उन समस्त विचारों का खण्डन करते हैं, जिसके अनुसार लक्ष्मी जी को श्रीनारायण के अंश के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त वे लक्ष्मी और माया के तादात्म्य को भी स्वीकार नहीं करते हैं। वस्तुतः विशिष्टाद्वैतवेदान्त में प्रकृति और माया को एक ही स्वीकार किया जाता है। प्रकृति की विचित्रसर्गशीलता के कारण ही उसे माया की संज्ञा दी जाती है। **'अनादिमायया सुप्तः'**[ग] कहकर आगम प्रकरण में कहा गया हैं, कि यह जीव अनादि माया के द्वारा मोहित होकर इस संसार में सो गया है। यह मिश्रसत्त्व (प्रकृति अथवा माया) जीवों में विपरितज्ञान का जनक है। यह माया श्रीभगवान् के स्वरूप को आच्छादित कर संसारी जीवों में विपरितज्ञान को उत्पन्न कर देने वाली है। विशिष्टाद्वैतवेदान्त में माया को अद्वैतवेदान्तियों के समान मिथ्या नहीं स्वीकार किया गया है। मायारूपी 'ज्ञान' अथवा 'संकल्प' के माध्यम से ही चिदचित् पदार्थों से (जो ईश्वर के विशेषण हैं) हैं, इस समस्त जगत् की सृष्टि होती हैं। वस्तुतः अनेकरूपों में विचित्रसृष्टि की निर्मात्री ईश्वर की माया शक्ति को जान सकना जीव के लिए अत्यन्त दुष्कर है। भगवान् के स्वरूप को अन्तर्हित कर देना और अपने स्वरूप में 'भोग्य–बुद्धि' करा देना इस माया का कार्य है। अतः भगवान् की माया से मोहित हुआ समस्त जगत् असीम अतिशय आनन्दस्वरूप भगवान् को ही नहीं जान पाता। यहाँ माया के दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं– प्रथम, तो अद्भूत पदार्थों की विचित्र सृष्टि करने वाले ईश्वरीय शक्ति के रूप में। शक्तिशाली होने के कारण ईश्वर उस माया के द्वारा प्रभावित नहीं होता है अपितु माया का नियन्ता होता है। और द्वितीय यह कि, जीव उसी माया से प्रभावित होकर अज्ञानी हो जाता है और अज्ञान के वशीभूत होकर वह ईश्वर एवं उनकी माया तथा अपने स्वरूप को भी नहीं जान पाता है। लक्ष्मीजी माया से अलग है। लक्ष्मीजी श्रीभगवान् की सहगामिनी हैं, जबकि माया उनकी शक्ति है। वस्तुतः लक्ष्मीजी नारायण के निकटतम सम्पर्क में हैं। वह एक माता के सदृश भक्त को भगवान् की कृपा के वियोग लाने में अपना प्रभाव डालती है। लक्ष्मी का अपना पृथक् अस्तित्त्व स्वीकार किया गया हैं। यद्यपि यह भी सत्य हैं, कि उनका व्यक्तित्व नारायण के व्यक्तित्व के समरस ही है। श्रीलक्ष्मी तथा नारायण के प्रयत्न श्रीभगवान् के सर्वथा अनुरूप ही हैं।[गप] यहाँ ध्यातव्य है कि श्रीपिल्लई लोकाचार्य लक्ष्मी को नारायण का अंश स्वीकार करते हैं, तो यहाँ जिज्ञासा होती है कि यदि लक्ष्मी जी को नारायण का अंश स्वीकार करें तो ऐसा होने से श्रीलक्ष्मीजी को जीव स्वीकार किया जाना चाहिए, तो इस विवादग्रस्त विषय पर आचार्य वेंकटनाथ कहते हैं, कि न तो हम लक्ष्मी को जीव ही कह सकते हैं और ना ही हम उन्हें नारायण ही कह सकते हैं। वस्तुतः लक्ष्मी इन दोनों से ही

पृथक् व्यक्ति है, जो श्रीभगवान् पर पूर्णतः आश्रित है। उनका श्रीभगवान् के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि सूर्य का किरण के साथ तथा पुष्प का उसकी सुगन्ध के साथ होता है।[गपप]
जबकि टेंकलै सम्प्रदाय के अनुसार लक्ष्मी केवल भगवत्कृपा दिलाने में सहायक होती है। वे मोक्ष प्रदान नहीं करती हैं। तत्त्वत्रय एवं वरवरमुनिरचितटीका में हमें श्रीभगवान् की तीन सहधर्मिणि लक्ष्मी, भूमि एवं नीला देवी का उल्लेख प्राप्त होता है, जो उनकी शक्ति हैं। श्रीलक्ष्मी जी जगन्माता है, अतः उनमें वात्सल्यगुण का आधिक्य है। अतः श्रीलक्ष्मी जी में श्रीभगवान् के सदृश 'काठिन्य' और 'मृदुता' दोनों का ही सद्भाव नहीं है, अपितु उनमें केवल 'मृदुता' ही पायी जाती है। अतः वह स्वभाव से जीवों के कष्टों को देखने में समर्थ हैं। मृदुता के कारण उन्हें जीवों पर दया आती है। अतः परमात्मा से पराप्रमुख हुए जीवों को परमात्मा के अनुकूल बनाने हेतु वे सदैव प्रयत्नशील रहती हैं। बड़े से बड़े पापी जीव भी भयरहित होकर श्रीलक्ष्मीजी शरणागत हो जाते हैं, क्योंकि माता स्नेहमयी है। श्रीभगवान् के पुरुषत्वानुकूल कठोरता के साथ ही साथ जगत्पिता होने से जीवों के कल्याण की इच्छा करने वाले हैं। किन्तु जीवों के अपराधों की गणना कर ईश्वर उन जीवों को दण्डित करने के कारण तथा कठोर दण्ड प्रदान करने वाले हैं, अतः वे जीव जो अत्यधिक पापी है, वह श्रीभगवान् के समक्ष जाने पर भयभीत हो जाते हैं। तब श्रीलक्ष्मी जी श्रीभगवान् को जीवों के समस्त अपराधों को भुलाकर अपना शरणागत बनाने में प्रयत्न करती है। अतः जीवों को परमात्मशरणागति कराने में लक्ष्मी जी के पुरुषाकार का होना अनिवार्य है। जहाँ पर लक्ष्मी जी पुरुषकारस्वरूपा होती है, वहाँ पर उनके उपर्युक्त तीन गुण आवश्यकरूप से अपेक्षित होते हैं– (1) कृपा– दूसरों के दुःख को सहन न कर सकना ही कृपा है। (2) पराधीनता– श्रीभगवान् के परतन्त्र होने को ही पराधीनता कहते हैं। (3) अनन्यार्हत्व– श्रीभगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य के योग्य न होना ही जीव का अनन्यार्हत्व है। लोकाचार्य कहते हैं, कि जीवों के दुःखों को देखकर उसे न सह पाने के कारण लक्ष्मी जी उन जीवों को दया करके ईश्वर से मिलाने का प्रयत्न करती हैं।

टेंकलै मतानुसार लक्ष्मी नारायण में निहित है और वह उनका साररूप अथवा शरीर है और जिन्होंने स्वेच्छा से अपना संकल्प पूर्णतः नारायण से एकीकृत कर लिया है। यद्यपि ऐसी कल्पना के अनुसार लक्ष्मी नारायण के आश्रित है तो भी भक्त के लिए लक्ष्मी और नारायण एक ही हैं। अतः उनके लिए भगवान् की दया अखण्डरूप से लक्ष्मी और नारायण दोनों की ही दया है। लक्ष्मी को नारायण की प्रीति का परमहेतु बताया गया है। ईश्वर अपने श्रेष्ठरूप में सदैव अपनी शक्ति लक्ष्मी अथवा श्री से संलग्न रहते हैं।[गपपप] नारायण ने लक्ष्मी को अपना अप्र माना है। लक्ष्मी ने भी नारायण से स्वयं को इस प्रकार एकरूप कर लिया है कि उनका नारायण से अलग अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः लक्ष्मी के लिए नारायण को अपनी इच्छा के अनुरूप करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, क्योंकि वहाँ द्वैतभाव का नाम तक नहीं है, अतः भक्त को लक्ष्मी पर पृथक्रूप से निष्ठा रखने की आवश्यकता नहीं है। लक्ष्मी का स्वरूप भगवान् की दया का शुद्ध सार है।[गपअ]

लक्ष्मीजी भी जीव के हृदय में ईश्वर की मैत्री साधने की आवश्यकता की भावना उत्पन्न करती है। वे द्विविध कार्य करती है– प्रथम यह कि, वह जीव के मन को मोड़ती है, जो अनादि अविद्या के प्रभाव से जीव को सांसारिक प्रपंचों में फँसता है तथा द्वितीय यह कि, वे भगवान् के हृदय को द्रवित करती है, जो मनुष्यों को उनके कर्म के अनुरूप फल प्रदान करने पर जोर देते हैं। उन्हें कर्मबन्धन का अतिक्रमण कर भक्तों पर आनन्द की वर्षा करती है। अतः हम देखते हैं कि बड़कलैमतानुसार लक्ष्मी भी श्रीनारायण के सदृश मोक्ष प्रदान कर सकती है जबकि टेंकलैमतानुसार लक्ष्मी केवल भगवत्कृपा दिलाने में सहायक हैं।[गअ]

(3) बड़कलै मतानुसार श्रीभगवान् वात्सल्य के वशीभूत होकर जीवों के दोषों की गणना नहीं करते हैं और टेंकलै मतानुयायी इनसे भी एक कदम और आगे बढ़ गये है। ये लोग 'दोष–भोग्य' के भयŽर सिद्धान्त को मानते हैं। जिस प्रकार सद्यः उत्पन्न बछड़े के शरीर में लगे हुए मल को उसे जन्म देने वाली गौ बड़े प्रेम से चाट–चाटकर खा जाती है, उसी प्रकार ईश्वर भी वात्सल्य के वशीभूत होकर आश्रित जीवों के दोषों को भोग्य पदार्थ के रूप में स्वीकार कर

लेते हैं। उनके अनुसार ईश्वर जीवों के पापों के फल का भोक्ता है, क्योंकि वह अपने कृपा प्रदर्शन के लिए विस्तृत क्षेत्र चाहता है।[गअप] लोकाचार्य कहते हैं, कि ईश्वर का प्रेम हमारे लिए माता जैसा है, अतः वह प्रेम से प्रेरित होकर जीवों के दोषों की गणना भी नहीं करता है। वह हम सभी को कर्म करने की प्रेरणा देता है और कर्मानुसार हमारी इच्छा की पूर्ति भी करता है।[गअपप] जो अज्ञानी हैं, उन्हें ज्ञान देता है, जो शक्तिहीन है, उन्हें शक्ति प्रदान करता है, अपराधियों को क्षमा, दुःखी जनों पर दया करता है। दुष्टों को भलाई, कुटिल को सरलता और जो दुष्ट हृदय वाले हैं, उनको सहृदयता प्रदान करता है। जो साधक ईश्वर से अलग नहीं रहना चाहता, ईश्वर भी उनसे अलग नहीं रहना चाहते है। जो उनका दर्शन करना चाहता है, वे ईश्वर स्वयं उनके समीप आ जाते हैं। ईश्वर के समस्त गुण एवं कार्य दूसरों के लिए हैं। इस सन्दर्भ में आस्कर वाइल्ड कृत 'दि प्रोफंडिस' में बताया गया है कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर अपने अन्तःकरण की किसी दैवीय प्रेरणा के कारण पापी से प्रेम करता था, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह मनुष्य के अन्दर पूर्णता को प्राप्त का सबसे निकटतम सम्भव उपाय था, एक ऐसे रूप में जिसे अभी तक नहीं समझा जा सका है। वह संसार के पाप और दुःख को स्वयं में सौन्दर्ययुक्त पवित्र वस्तु एवं पूर्णता का प्रकार मानता है।[गअपपप]

(5) लोकाचार्य दूसरों के दुःख में स्वयं भी दुःख की अनुभूति करने को ही दया कहते हैं जबकि आचार्य वेदान्तदेशिक दूसरों के दुःख का निवारण करने की इच्छा को दया कहते हैं।[गपग]

(6) बड़कलै मतानुसार मोक्षावस्था में आनन्दानुभूति का तारतम्य नहीं होता है।[गग] कहने का अभिप्राय यह हैं, कि मोक्षावस्था में जीव का आनन्द बढ़ता घटता रहता है। वस्तुतः विशिष्टाद्वैतवेदान्त में जीव की अनेकता को स्वीकार किया जाता है। उन जीवों के अनेक होने से उनके कर्म भी अनेक होते हैं। वस्तुतः मोक्ष प्राप्ति में उनके साधन भिन्न–भिन्न स्वीकार किए जाते हैं, कभी वह भक्ति से प्राप्त होता है, तो कभी वह प्रपत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है। चूँकि उनकी साधना तथा साधना की तीव्रता न्युनाधिक भिन्न–भिन्न होती है, अतः उस साधना से प्राप्त होने वाला फल भी एक जैसा नहीं हो सकता है। इसके साथ ही ईश्वर के आनन्द के समान जीव का आनन्द नित्य नहीं होता है। यही कारण है कि मोक्षावस्था में प्राप्त होने वाले आनन्द में तारतम्य नहीं होता है। इसके विपरीत लोकाचार्य मोक्षावस्था में आनन्दानुभूति का तारतम्य स्वीकार करते हैं।[गगप] उनके अनुसार ईश्वर एवं जीव का आनन्द हमेशा एक समान ही रहता है।

(7) टेंकलै मतानुयायी कैवल्य मुक्ति को नित्य स्वीकार करते हैं, जबकि इसके विपरीत बड़कलै मतानुयायी कैवल्य मुक्ति को अनित्य स्वीकार करते हैं।[गगपप] अनित्य मोक्ष की अवस्था में मनुष्य स्वयं को ब्रह्म समझता है। इस अवस्था में भी अविद्या और संसार से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और मनुष्य ब्रह्म से एकता को प्राप्त होता है किन्तु यह अवस्था लोकाचार्य के अनुसार अवांछनीय है। कैवल्य अथवा अपने आपको ब्रह्म से ऐक्य का अनुभव करना निम्न कोटि की मुक्ति है। लोकाचार्य के अनुसार नित्य मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, अतः भगवान् को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया जाता है और जीव की ईश्वर से पृथक् सत्ता होती है। उस स्थिति में जीव उसके आनन्दभोग को जानता है। भगवान् की शरण को ग्रहण करता है। वही मुक्ति नित्य मुक्ति कहलाती है। यही नित्य मुक्ति ही मुक्ति का उच्चतम स्तर है।

(8) अचित् तत्त्व के तीन भेदों में से 'शुद्धसत्त्व' अर्थात् 'नित्यविभूति' के विषय में आचार्यों के दो मत दिखाई पड़ते है, जिनमें से टेंकलै मतानुसार शुद्धसत्त्व 'चित्' होता है, जबकि बड़कलै मतानुसार 'जड़' स्वीकार किया जाता है।[गगपपप] रामानुजाचार्य के अनुसार शरीर के अभाव में आत्मा नहीं रहती है, अतः मोक्षावस्था में कर्मजन्य प्राकृत देहपात के पश्चात् मुक्त पुरुष को भगवत्संकल्प से निर्मित अप्राकृतिक शुद्धसत्त्व शरीर प्राप्त होता है। तथा उस अवस्था में इस शुद्ध सत्त्व की प्रतीति सदैव 'इदम्' इस रूप में होती है। लोकाचार्य इस शुद्ध सत्त्व को चेतन (अजड़ अथवा स्वयंप्रकाश) स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह ज्ञान के बिना ही प्रकाशित होता है, अतः 'स्वयंप्रकाश' है। जबकि आचार्य वेदान्तदेशिक

का कथन है कि शुद्ध सत्त्व जड़ (जो स्वयंप्रकाश न हो) है[गगपअ], तो यहाँ जिज्ञासा होती है कि स्वयंप्रकाश होने पर भी यह शुद्ध सत्त्व संसारी जीवों के लिए स्वयं प्रकाशित क्यों नहीं होता है? तब लोकाचार्यस्वामी इस जिज्ञासा का शमन करते हुए कहते हैं, कि जो लोग शास्त्रों (भगवत्शास्त्र, पांचरात्र आगम आदि) का विचार करते हैं, उनके अनुसार शुद्धसत्त्व ज्ञानात्मक होने से स्वयंप्रकाश है। जिस प्रकार धर्मभूतज्ञान स्वयंप्रकाश है और वह अपने आश्रयभूत आत्मा के लिए ही स्वयंप्रकाशित होता है तथा इसमें उसका स्वयम्प्रकाश से कोई विरोध नहीं होता है। जिस प्रकार दिव्य आत्मा का स्वरूप स्वयम्प्रकाशित है, उसी प्रकार ईश्वर को भी यह शुद्धसत्त्व स्वयंप्रकाशित होता है। मोक्षावस्था में मुक्त जीव को भी सर्वज्ञ होने से यह शुद्धसत्त्व स्वयंप्रकाशित होता है। बद्धावस्था में शुद्धसत्त्व को प्रकाशित करने की क्षमता प्रतिबन्धित हो जाती है, अतः बद्ध जीवों को शुद्धसत्त्व प्रकाशित नहीं होता है।[गगअ]

(9) बड़कलै मतानुसार लक्ष्मी में केवल स्वरूपव्याप्ति है, जबकि टेंकलै मतानुसार लक्ष्मी में विग्रहव्याप्ति और गुण–व्याप्ति है, स्वरूपव्याप्ति नहीं है।[गगअप]

(10) वैष्णव सम्प्रदाय में तिलक पंचसंस्कार[गगअपप] का ही एक अंश है। रामानुजाचार्य के बाद श्रीवैष्णव सम्प्रदाय दो शाखाओं में विभक्त हो गया। सैद्धान्तिक मतभेदों के साथ बड़गलै और टेंकलै सम्प्रदाय में तिलक को लेकर दो प्रकार के मत बन गए। तिलक के तीन अंग माने गए हैं– **(1) सिंहासन–** वह भाग जो भृकुटि के सन्धि स्थल के नीचे और नासिका मूल पर रहता है। **(2) उर्ध्वपुण्ड्र–** दो रेखाएँ जो सिंहासन से मिली हुई होती है तथा जिसे मस्तक के दाहिनी तथा बायी ओर बीच में थोड़ा अवकाश छोड़कर लगाया जाता है। (3) श्रीबिन्दु अथवा श्रीरेखा– जो उर्ध्वपुण्ड्र की दोनों रेखाओं के मध्य मस्तक पर धारण की जाती है। टेंकलै मत में ये तीनों 'सिंहासन, उर्ध्वपुण्ड्र तथा श्रीबिन्दु' तीनों अनिवार्य रूप से रहते है, जबकि बड़गलै मत में उर्ध्वपुण्ड्र तथा श्रीबिन्दु तो रहते है, लेकिन सिंहासन का अभाव रहता है। विभिन्न सम्प्रदायों में इनके वर्ण बदलते रहते हैं। उर्ध्वपुण्ड्र श्वेत गोपीचन्दन अथवा रामरज के लगाए जाते हैं। इसी प्रकार उसके मध्य की रेखा अथवा श्री (रक्त वर्ण) श्वेत (गोपीचन्दन) अथवा पीत (रामरज अथवा हरिद्रा) को होती है। वैष्णवों का कलात्मक भाग तिलक उर्ध्वपुण्ड्र कहलाता है। इसमें आस–पास चन्दन की खड़ी रेखा (जो श्रीविष्णु के चरण का प्रतीक है) बनती है तथा मध्य में कुमकुम अथवा हल्दी की खड़ी रेखा बनती है। जो लक्ष्मी जी का प्रतीक है) दोनों रेखाओं को मोड़ती हुई चन्दन की रेखा (श्रीभगवान् विष्णु जी के आसन का प्रतीक है) बनती है। टेंकलै सम्प्रदाय का आकार अंग्रेजी में ल (व्हाय) और बड़गलै का न (यू) अक्षर की भाँति होती है। टेंकलै मत में तिलक नासिकामूल से लगाया जाता है और बड़गलै मत में तिलक भौहों को छूते हुए लगाते हैं, यह तिलक को लेकर मुख्य भेद है।

(11) बड़गलै मत के आचार्य उभय वेदान्ती थे क्योंकि इनकी दृष्टि में तमिल एवं संस्कृत वेद दोनों ही समानरूप से महत्त्वपूर्ण थे, जबकि टेंकलै मतानुयायियों के अनुसार तमिलप्रबन्धम् मुख्य है।

उपरोक्त भेदों के होते हुए भी दोनों ही शाखाओं के तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण सर्वथा समान है।

[प] प्रो0 सप्रमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 326, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।

[पप] जगदीश चन्द्र मिश्र विरचित, भारतीय दर्शन, पृ0 606, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

[पपप] त्वन्मनसा किमैच्छः इत्युक्त प्रकारेण प्राप्तेरूपायस्तदिच्छा।।–श्रीवचनभूषण/पुरुषाकारवैभवप्रकरण/ सूत्र 70

[पअ] सा च सदा वर्तते।–श्रीवचनभूषण। –श्रीवचनभूषण/पुरुषकारवैभवप्रकरण/सूत्र 71

[अ] सा फलति अस्य चिन्ता निवृत्ता चेत्।––श्रीवचनभूषण/पुरुषकारवैभवप्रकरण/सूत्र 72

[अप] डॉ0 राधाकृष्णन् विरचित–भारतीय दर्शन, भाग–2

[अपप] ईशावास्योपनिषद्–2

[अपपप] डा0 एस0एन0 दास गुप्त विरचित भारतीय दर्शन का इतिहास/भाग–3/पृ0 303

[पग] डॉ0 राममूर्ति पाठक विरचित भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा/पृ0 176

[ग] माण्डूक्योपनिषद्, आगम प्रकरण–16

[गप] परस्परानुकूलतया सर्वत्र सामरस्यम्।–चतुश्श्लोकी

[गपप] डा0 एस0एन0 दास गुप्त विरचित भारतीय दर्शन का इतिहास/भाग–3/पृ0 81

[गपपप] अहिर्बुध्न्य संहिता–6–25

[गपअ] देव्या कारूण्य रूप येऽति तद्गुण–सारत्वेन कारूण्यं स्वयमेवेति।–श्रीवचनभूषण/हस्त0 द्रष्टव्य–डॉ0 एस0एन0 दास गुप्त विरचित भारतीय दर्शन का इतिहास/भाग–3/पृ0 298

[गअ] डा0 राधाकृष्णन विरचित भारतीय दर्शन/भाग–2/पृ0 587

[गअप] आभिमुख्यमात्रेऽपराधान् क्षंतुं भोग्यत्वेन स्वीकर्तुं वोपयुक्तैर्गुणैः।–श्रीवरवरमुनीन्द्र विरचित 'श्रीवचनभूषणभाष्य', श्रीवचनभूषण, पुरुषकारवैभवप्रकरण, पृ0 70, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

[गअपप] डा0 राधाकृष्णन् विरचित भारतीय दर्शन/भाग–2/पृ0 587

[गअपपप] द्रष्टव्य डा0 राधाकृष्णन् विरचित भारतीय दर्शन/भाग–2/पृ0 587

[गपग] प्रो0 संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 326, कृपापरदुःखासहिष्णुत्वम्।–श्रीवरवरमुनीन्द्र तत्त्वत्रयभाष्य, श्रीमल्लोकाचार्य विरचित श्रीवचनभूषण/ पुरुषकारवैभवप्रकरण/पृ0 50, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

[गग] प्रो0 सप्रमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 326, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।

[गगप] प्रो0 सप्रमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 326, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, डॉ0 एस0एन0 दास गुप्त विरचित 'भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–3, पृ0 75

[गगपप] प्रो0 सप्रमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 326, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।

[गगपपप] श्रीमल्लोकाचार्य विरचित तत्त्वत्रय/अचित्प्रकरण/पृ0 159, श्रीरामानुजाचार्य मठ, (सूर्यकुण्ड के पास) देवघाट, गया, बिहार, आचार्य बलदेव उपाध्याय विरचित वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, पृ0 162, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

[गगपअ] श्रीवेदान्तदेशिक विरचित 'रहस्यत्रयसार'

[गगअ] श्रीमल्लोकाचार्य विरचित तत्त्वत्रय/अचित्प्रकरण/पृ0 159/रामानुजाचार्य मठ (सूर्यकुण्ड के पास) देवघाट, बिहार।

[गगअप] प्रो0 संगमलाल विरचित, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ0 326

[गगअपप] रामानुज सम्प्रदाय में पंच संस्कार विहित हैं–

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च प×चमः।

अमी प×चैव संस्काराः परमैकान्तिनो मताः।।–अष्टांगरहस्यविवरण, पृ0 15

प×च संस्कार वे हैं, जो ईश्वरशरणागति करते हुए आचार्य अपने शिष्यों को ताप, उर्ध्वपुण्ड्र, नाम, अष्टाक्षरी मन्त्र तथा यज्ञ कार्य सम्पादन करके करवाते है।। (क) ताप– आचार्य दीक्षा देते समय चाँदी के बने हुए शंख–चक्र की मुद्राओं को अग्नि में तथा कर, दोनों बहुमूल में क्रमशः अंकित करते हैं, इसे ताप संस्कार कहते हैं। (2) उर्ध्वपुण्ड्र– शरणागति के समय ललाट पर पाशा तथा श्रीचूर्ण से लगाया जाने वाला तिलक। (3) नामकरण– दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ति के नाम के प्रथम अक्षर का आधार लेकर उसे एक साम्प्रदायिक नाम दिया जाता है। (4) मन्त्र– आचार्य शिष्य के बाएँ कान में अष्टाक्षरमन्त्र का, तदनन्तर द्वयमन्त्र फिर अन्तिम में चरमश्लोक का उपदेश देते हैं। (5) याग– इसके बाद पंचभूसंस्कार से संस्कारित वेदी पर पुरुष–सूक्त तथा श्रीसूक्त से हवन कराया जाता है। यही आचार्य द्वारा शिष्य को दिए जाने वाले 'पंचसंस्कार' है।

❑❑